

जैनविद्या के अध्ययन की तकनीक

जैन विद्या एक व्यापक शब्द है इसमें न केवल जैन धर्म और दर्शन का समावेश होता है, अपितु जैन इतिहास, कला, पुरातत्त्व, साहित्य, समाज और संस्कृति सभी कुछ समाहित है। आज जैन विद्या के अध्ययन की आवश्यकता तथा उसके मूल्य और महत्त्व को समझने के लिए हमें इन सभी क्षेत्रों में जैनों के अवदान का आकलन करना होगा। यह सत्य है कि जैन समाज भारतीय समाज और संस्कृति का एक छोटा सा अंग है। आज जैनों की जनसंख्या भारत की जनसंख्या के एक प्रतिशत से अधिक नहीं है, किन्तु इनका अवदान विपुल है। यदि हम जनसंख्या के अनुपात में जैनों के भारतीय संस्कृति में अवदान का मूल्यांकन करते हैं तो हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। आज भारतीय संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह पुरा सम्पदा का हो या साहित्य का हो, चाहे शिक्षा और समाज सेवा का हो, उनका अवदान तीस प्रतिशत से अधिक ही है। एक प्रतिशत जनसंख्या का अवदान यदि तीस प्रतिशत से अधिक हो तो यह उस समाज के लिए कम गौरव की बात नहीं है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में आदिकाल से ही हम निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा और प्रवृत्तिमार्गी वैदिक-परम्परा का अस्तित्व साथ-साथ ही देखते हैं। मात्र यही नहीं भारतीय इतिहास की इन दोनों धाराओं ने एक दूसरे को प्रभावित भी किया है। आज हम जिस बृहद हिन्दू समाज और संस्कृति को देखते हैं वह केवल वैदिक धारा की परिणति नहीं है अपितु वैदिक और श्रमण दोनों धाराओं का समन्वित रूप है। भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम है, उसमें भारतीय संस्कृति की इन दोनों धाराओं का आर्हत और बार्हत के रूप में उल्लेख उपलब्ध है। ऋग्वेद न केवल ब्राह्मण, श्रमणों एवं आर्हतों की उपस्थिति का संकेत करता है, अपितु उसमें ऋषभ, अजित, अरिष्टनेमि, जिन्हें जैन-परम्परा अपने तीर्थंकर के रूप में मान्य करती है, के उल्लेख भी हैं। ध्यान और योग की इस श्रमण धारा के अस्तित्व के संकेत तो भारतीय इतिहास में वैदिकों के भी पूर्व हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की जानकारी हमें उपलब्ध होती है उससे भी यही सिद्ध होता है कि वैदिक संस्कृति के आगमन से पूर्व भी भारत में एक उच्च आध्यात्मिक संस्कृति अपना अस्तित्व रखती थी। उस उत्खनन में ध्यानस्थ योगियों की सीलें आदि मिलना यही सिद्ध करता है कि

वह संस्कृति तप, योग और ध्यान प्रधान उस व्रात्य संस्कृति से भिन्न नहीं थी जिसका उल्लेख ऋग्वेद में है। यह संस्कृति न केवल जैन और बौद्ध श्रमण परम्पराओं की अपितु सांख्य-योग और शैवधारा की भी पूर्वज है। भारतीय संस्कृति की औपनिषदिक धारा में वैदिक कर्मकाण्डों के प्रति जिस उपेक्षावृत्ति का विकास हुआ और तप, त्याग, ध्यान, संन्यास, समाधि और मुक्ति की अवधारणाएं अस्तित्व में आयीं, वे सभी इसी निवृत्तिमार्गी श्रमण धारा के प्रभाव का परिणाम हैं। वस्तुतः उपनिषद् श्रमण और वैदिक धारा के समन्वय या संगम के परिचायक हैं। यह सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से निर्ग्रन्थ परम्परा की आध्यात्मिक दृष्टि का ही परिणाम था कि महाभारत आदि में वैदिक कर्मकाण्डों की नवीन आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की गईं, जहाँ यज्ञ का अर्थ पशुबलि न होकर स्वहितों की बलि या समाज सेवा हो गया। उत्तराध्ययन के समान गीता और महाभारत में यज्ञों और कर्मकाण्डों की जो आध्यात्मिक परिभाषाएं दी गई हैं, वे उसी श्रमण या जैन धारा की ही प्रभाव हैं। हमें महावीर और बुद्ध के पूर्व भी औपनिषदिक ऋषियों के ये वचन कि 'ये यज्ञ रूपी नौकाएं अदृढ़ हैं, ये हमारे आत्मविकास में सक्षम नहीं हैं, शून्य में से उद्भूत नहीं हुए हैं। उसके पीछे इसी निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का पृष्ठबल है। इसी प्रकार उपनिषदों में जनक का यह कथन कि इसके पूर्व जिस अध्यात्म विद्या पर क्षत्रियों का अधिकार था, आज प्रथम बार ब्राह्मणों को दी जा रही है— इस बात का सूचक है कि क्षत्रिय अध्यात्म प्रधान संस्कृति के उपासक थे। बुद्ध और महावीर का क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होकर आध्यात्मिक साधना हेतु अपने राजसी वैभव का त्याग कर देना इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि उपनिषदों के पूर्व भी कोई अध्यात्मवादी संस्कृति अस्तित्व में थी जिससे प्रभावित होकर उन्होंने गृहत्याग किया था। श्रमणों का और विशेष रूप से जैनों का जो सबसे महत्वपूर्ण अवदान भारतीय समाज को है वह यह कि उन्होंने न केवल कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद से भारतीय समाज को मुक्त किया अपितु जन्मना जातिवाद का प्रबल विरोध करके दलित वर्ग के उत्थान का मार्ग भी प्रशस्त किया। उन्होंने एक ओर भारतीय समाज को पुरोहित वर्ग के द्वारा किये जाने वाले कर्मकाण्डरूपी धार्मिक शोषण से मुक्त किया, वहीं दूसरी ओर एक ऐसे धर्म का प्रतिपादन किया जो जन-जन का धर्म था और कर्मकाण्डों की अपेक्षा नैतिक सद्गुणों पर अधिष्ठित था। सभी जाति और वर्ग के लिए उसके द्वार समान रूप से खुले हुए थे। उसमें चाण्डाल कुल में उत्पन्न हरिकेशीबल और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न गणधर गौतम दोनों ही समान रूप से आदर के पात्र थे। वस्तुतः जैन धर्म ने वैदिक धारा की उन विकृतियों का जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, जातिवाद और निम्न वर्ग के धार्मिक शोषण के रूप में उभर रही थी, खुलकर विरोध किया, किन्तु उनका यह विरोध भारतीय संस्कृति के परिष्कार के लिए ही था। जैनों ने भारतीय संस्कृति में आ रही विकृतियों का परिशोधन कर उन्हें स्वस्थ बनाने में एक चिकित्सक का दायित्व निभाया है। अध्यात्म का जो स्वर औपनिषदिक ऋषियों ने मुखरित किया था, जैनों

ने उसी को यथार्थ के धरातल पर अवतरित किया है। उनका यह अवदान उस युग में तो प्रासंगिक था ही, किन्तु आज भी जब जातिवाद, वर्गवाद और धार्मिक अन्धविश्वासरूपी अजगर भारतीय संस्कृति को निगलने हेतु अपना मुंह फैलाये खड़े हैं, और भी अधिक प्रासंगिक है। आज विद्वानों से यह अपेक्षा है कि वे तुलनात्मक अध्ययन से इस तथ्य को स्पष्ट करें कि वैदिक और श्रमण धाराओं का पारस्परिक अवदान कितना है।

जहाँ प्रारम्भ में श्रमणधारा ने वैदिकों को प्रभावित किया और उनमें तप, त्याग और आध्यात्म का बीज वपित कर औपनिषदिक धारा का विकास किया, वही परवर्ती काल में उसी औपनिषदिक धारा से विकसित बृहद् हिन्दू परम्परा से प्रभावित भी हुए हैं। श्रमणों में विशेष रूप से जैन परम्परा में पूजा और उपासना में जिस कर्मकाण्ड का विकास हुआ वह उसपर बृहद् हिन्दू परम्परा का प्रभाव है। जैन देवमण्डल में यक्ष-यक्षी के रूप में अनेक हिन्दू देवी-देवता सम्मिलित किये गये। काली, महाकाली, गौरी, गन्धारी, ज्वालामालिनी, अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि देवियाँ शासनरक्षिका के रूप में स्वीकार कर ली गईं। श्रुतदेवता के रूप में सरस्वती और सम्पत्ति प्रदाता के रूप में लक्ष्मी (श्रीदेवी) को जैनों ने आज से दो हजार वर्ष पूर्व ही गृहीत कर लिया था। आज भारत में जो सबसे प्राचीन सरस्वती की प्रतिमा है वह जैन सरस्वती है। लखनऊ संग्रहालय में यह लगभग दो सहस्राब्दि पूर्व की अभिलिखित सरस्वती प्रतिमा उपलब्ध है। जैनों में आज जो पूजा विधान उपलब्ध है वह हिन्दू परम्परा से आया है। उसके पूजा मन्त्र थोड़े से शाब्दिक हेर-फेर के साथ यथावत गृहीत हैं। तन्त्र के प्रभाव से जैन साधना पद्धति कितनी प्रभावित हुई है, यह जानना कम रुचिकर नहीं है। भौतिक उपलब्धि के लिए देवी उपासना और मारण, मोहन, उच्चाटन जैसे षट्कर्म जो अहिंसा प्रधान निवृत्तिमार्गी परम्परा के प्रतिकूल थे, वे सब तन्त्र की अन्य सहवर्ती परम्परा के प्रभाव से ही जैन धर्म में प्रविष्ट हुए हैं। यहाँ यह चर्चा इसलिए अपेक्षित है कि जैनधर्म और दर्शन के अध्ययन और शोध की सम्यक् दिशा तभी निर्धारित होगी, जब विभिन्न भारतीय परम्पराओं के आदान प्रदान को लोग समझेंगे। क्योंकि कोई भी धर्म या संस्कृति शून्य में जन्म नहीं लेती है। जैन विद्या का अध्ययन तभी सार्थक होगा जब हम हिन्दू, बौद्ध और इतर परम्पराओं से उसके अन्तः सम्बन्धों को स्पष्ट करेंगे।

यह सत्य है कि प्रत्येक धर्म और दर्शन का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन तो विपुल मात्रा में हुआ है, किन्तु इनके परस्परिक अन्तः सम्बन्धों को समझने के प्रयास कम ही हुए हैं। पुनः भारतीय धर्मों और दर्शनों के प्रसंग में तो इस प्रकार के परस्परिक प्रभावों और अन्तःसम्बन्धों को समझना इसलिए भी आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति एक सशलिष्ट संस्कृति है, उसको खण्ड-खण्ड में विभाजित करके नहीं समझा जा सकता है। जैन धारा के अध्ययन के लिए बौद्ध और हिन्दू धाराओं का अध्ययन अपेक्षित है।

जैन आगमों की सम्यक् समझ बौद्ध त्रिपिटक के अध्ययन के बिना सम्यक् रूप से नहीं समझा जा सकता है। जिसने बौद्ध त्रिपिटक को नहीं पढ़ा हो वह ऋषिभाषित के सारिपुत्र और वाज्जियपुत्र या महाकश्यप के उपदेश के हार्द को कैसे समझेगा। पुनः जिसने उपनिषदों को नहीं पढ़ा हो उसके लिए आचारांग में प्रतिपादित आत्मा का स्वरूप अथवा ऋषिभाषित के नारद, असितदेवल, अरुण, उद्दालक, पराशर, याज्ञवल्क्य आदि के उपदेशों को सम्यक् रूप से समझ पाना कठिन है। इसलिए जैन विद्या के अध्येताओं का यह दायित्व है कि वे जैन विद्या के अपने अध्ययन को एकांगी नहीं बनायें। उन्हें इस बात की गम्भीरता से खोज करनी होगी कि जैन धर्म पर दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्र में अन्य परम्पराओं का कितना प्रभाव है। उन्होंने अपनी सहवर्ती परम्पराओं से कितना लिया है और उनमें उनका प्रदान क्या है? भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के बीच हुए आदान-प्रदान को स्पष्ट करना शोध अध्येताओं प्राथमिक दायित्व है।

यद्यपि जैन, बौद्ध और वैदिक धाराओं में धर्म, दर्शन, कलापक्ष आदि को लेकर स्वतन्त्र अध्ययन तो अनेक हुए हैं, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन कम ही हुए हैं और जो हुए भी हैं उनमें भी अधिकांश पक्षाग्रह से पीड़ित हैं। उनमें इनकी पारस्परिक प्रभावशीलता और अन्तःसम्बन्धों को तटस्थ और निर्भीक रूप से रखने के प्रयत्न तो अत्यन्त ही विरल हैं। उदाहरण के लिए जैन परम्परा में लोक पुरुष की कल्पना है। जैन चिन्तकों ने उसे गहराई से स्पष्ट भी किया है, किन्तु किसी ने यह नहीं बताया कि यह ऋग्वेद की लोक पुरुष की कल्पना अथवा भागवत की लोक पुरुष की कल्पना से किस प्रकार प्रभावित है और किस प्रकार भिन्न है? पुनः यह अवधारणा जैन परम्परा में कब और किस ग्रन्थ में प्रथम बार आई है? आगमों में त्रैवेयक देव लोक को ग्रीवा स्थानीय माना तो गया फिर भी स्पष्ट रूप से लोक पुरुष की कल्पना उनमें नहीं है। जबकि जैनकला के क्षेत्र में लोक पुरुष का यह अंकन अत्यन्त प्रिय रहा है। साहित्यिक स्रोतों में लोक पुरुष की यह कल्पना लोकप्रकाश के पूर्व प्राचीन जैन ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलती है। इसी प्रकार स्वर्ग, नरक, तिर्यक, जम्बूद्वीप आदि की कल्पनाओं में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में कहीं समरूपता और कहीं वैभिन्न्य भी है अतः इनका तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

पुनः तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ इतना ही नहीं है कि दोनों परम्पराओं की मान्यताओं को पृथक्-पृथक् रूप से प्रस्तुत कर दिया जाये अपितु अध्येता का यह भी दायित्व है कि वह पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर उन्हें ऐतिहासिक क्रम में रखकर यह स्पष्ट करे कि किसने किससे लिया है और किस प्रकार उसमें परिवर्तन किया है।

जैन दर्शन के ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसको और उसका टीकाओं को लेकर अनेक अध्ययन हुए हैं और शोधग्रन्थ भी लिखे गये किन्तु प० सुखलाल जी के एक अपवाद को छोड़कर किसी जैन विद्वान् ने इस तथ्य को उजागर

करने का प्रयत्न ही नहीं किया कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना शैली और उसके सूत्रों पर वैशेषिक सूत्र और योगसूत्र का कितना प्रभाव है। प्राकृत आगम साहित्य का एक विरल किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है— ऋषिभाषित। इस ग्रन्थ पर सर्वप्रथम शुब्रिंग की और उसके पश्चात् मेरी लगभग सौ पृष्ठों की प्रस्तावना को छोड़कर किसी ने यह प्रयत्न नहीं किया कि इसमें जिन पैतालीस ऋषियों के उपदेशों का प्रतिपादन है वे मूलतः किस परम्परा के हैं। प्राकृत भाषा में निबद्ध यह रचना जैन आगमिक परम्परा का ग्रन्थ है, किन्तु इसमें जिन ऋषियों के उपदेश संकलित हैं, वे औपनिषदिक, बौद्ध और अन्य स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओं के हैं। जैन परम्परा में उनके उपदेशों का संकलन यही सूचित करता है कि भारत की आध्यात्मिक धारा का स्रोत एक ही है। आज ऋषिभाषित और थेर गाथा जैसे ग्रन्थों का अध्ययन अन्य परम्पराओं के सन्दर्भों के बिना सम्भव नहीं है। ऋषिभाषित में प्रतिपादित सारिपुत्र या महाकाश्यप के उपदेशों के लिए बौद्ध त्रिपिटक का और उद्दालक या याज्ञवल्क्य के विचारों को समझने के लिए उपनिषदों का अध्ययन अपेक्षित होगा। तात्पर्य यह है कि बिना तुलनात्मक अध्ययन के अथवा सहवर्ती अन्य धाराओं के अध्ययन के जैनविद्या के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में एक समग्र दृष्टि का विकास सम्भव नहीं है।

जैनविद्या के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन के साथ प्रत्येक अवधारणा के ऐतिहासिक विकासक्रम को जानना भी आवश्यक है। उदाहरण के रूप में जैन आचार शास्त्र में पञ्चमहाव्रतों का, योगसूत्र में पञ्चयमों का और बौद्ध त्रिपिटक में पञ्चशीलों का उल्लेख मिलता है। यह भी सत्य है जहाँ जैन परम्परा के महाव्रतों और योगसूत्र के पञ्चयमों में नाम और क्रम में एकरूपता है, वहाँ बौद्ध परम्परा में अपरिग्रह के स्थान सुरा-मेरय-मद्य निषेध है। अतः तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि बौद्धों ने इस अवधारणा में अपने ढंग से परिवर्तन किया है, क्योंकि महावीर के समान वे अपरिग्रह पर इतना बल नहीं देते थे। पुनः आचारांग में त्रियाम का और भगवतीसूत्र में चातुर्याम का भी उल्लेख है। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में महावीर ने ब्रह्मचर्य को जोड़कर उसे पञ्चयाम या पञ्चमहाव्रतरूप बनाया। पुनः त्रियाम का उल्लेख उपनिषदों में है, जिसके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य और अस्तेय आते हैं। औपनिषदिक ऋषि पत्नी और परिग्रह रखते थे। पार्श्व ने उसमें अपरिग्रह जोड़कर यह माना कि स्त्री भी परिग्रह है अतः परिग्रह के त्याग में स्त्री का त्याग भी समाहित है। किन्तु जैसा कि सूत्रकृतांग में उल्लिखित है जब स्त्री का त्याग करके भी मैथुन से विरत रहना आवश्यक नहीं माना गया तो महावीर ने ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अलग अलग करके पञ्चमहाव्रत बनाये। पुनः महावीर ने यम के स्थान पर उन्हें महाव्रत नाम इसलिए दिया कि गृहस्थ के लिये ये ही अणुव्रतरूप थे! अणुव्रत और महाव्रत का वर्गीकरण महावीर का अपना था। अतः योगसूत्र में जो महाव्रत शब्द आया है, वह

महावीर की परम्परा से गृहीत है, जब कि यम शब्द पार्श्व की परम्परा का है। इससे इनके विकास का ऐतिहासिक क्रम निश्चित हो जाता है कि किस प्रकार त्रियाम से चातुर्याम और चातुर्याम से पञ्चयाम और पञ्चमहाव्रत विकसित हुए। यह एक प्रारूप है। सभी अवधारणाओं के अध्ययन में इस प्रकार के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझना आवश्यक है। इस प्रकार के अध्ययन से यह भी निश्चित हो सकेगा कि कौन सी अवधारणा किस परम्परा से किसने ग्रहीत की है।

जैन विद्या के क्षेत्र में अनेक अवधारणाओं का विद्वानों द्वारा गम्भीर और तलस्पर्शी अध्ययन हुआ है। किन्तु उनके ऐतिहासिक क्रम को न समझ पाने के कारण उन्होंने सभी अवधारणाओं को सीधा महावीर या ऋषभ से जोड़ दिया है। मात्र इतना ही नहीं, प्राचीन स्तर के ग्रन्थों को व्याख्यायित करने हेतु भी उन्हीं परवर्ती अवधारणाओं को आधार बना लिया। उदाहरण के लिए तत्त्वार्थसूत्र मूल में कहीं भी गुणस्थान का निर्देश नहीं है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के सभी श्वेताम्बर या दिगम्बर टीकाकार उसके सूत्रों की व्याख्याओं में जहाँ भी सम्भव होता है इस गुणस्थान सिद्धान्त का विपुल रूप में प्रयोग करते हैं। किन्तु अकादमीय दृष्टि से यह पद्धति उचित नहीं है क्योंकि यह शब्द की मूलात्मा को समझने में भ्रान्ति उत्पन्न करती है।

कौन सी अवधारणा कब विकसित हुई इसको समझने का सर्वसुलभ तरीका यह है कि उस शब्द का उस अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग किस ग्रन्थ में है और उस ग्रन्थ का रचना काल कब का है? गुणस्थान शब्द का प्रयोग मूल आगमों और तत्त्वार्थसूत्र (तीसरी-चौथी शती) में कहीं नहीं है, जबकि छठी शती या उसके बाद निर्मित आगमिक व्याख्याओं और तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में है इससे यह फलित होता कि गुणस्थान सिद्धान्त चौथी शताब्दी के पश्चात् और छठी शती के पूर्व अर्थात् पांचवी शती में अस्तित्व में आया है। पुनः इस तुलनात्मक और ऐतिहासिक विकासक्रम में किसी अवधारणा के प्रकारों की संख्याओं के निर्धारण के आधार पर भी अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसे तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास की चार, सात और दस अवस्थाओं का चित्रण है। हम देखते हैं कि उपनिषदों और हीनयान सम्प्रदाय में भी इसकी चार ही अवस्थाओं का चित्रण है। योगवशिष्ट में ज्ञान की सात अवस्था बतायी गयी है, जबकि महायान सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकासक्रम की दस भूमियाँ बताई गई हैं। अतः यह विचार सम्भव है कि संख्या निर्धारण अकस्मात् नहीं होता है, वह भी अन्य परम्पराओं से प्रभावित हो सकता है। अतः अध्ययन करते समय इस संख्यात्मक पक्ष पर भी ध्यान देना चाहिए। उदाहरण के लिए षडावश्यक, गृहस्थ के षट्कर्म तथा तन्त्र के मारण आदि षट्कर्मों की संख्या के निर्धारण में एक दूसरे का प्रभाव परिलक्षित होता है। तुलनात्मक समग्र अध्ययन के स्थान पर एकपक्षीय अध्ययन का सबसे बड़ा दोष यही है कि अनेक स्थितियों में वह हमारी व्याख्याओं को भ्रान्त बना देता है। अपनी

परम्परा के व्यामोह और अन्य परम्पराओं के ज्ञान के अभाव में ऐसी भ्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। उदाहरण के लिए शीलांक जैसा आचारांग का समर्थ टीकाकार त्रियाम (तज्जामा) का सही अर्थ नहीं कर पाया क्योंकि वह उपनिषदों के त्रियाम से परिचित नहीं था। वे अपनी परम्परा में ही त्रियाम का अर्थ खोजते रहे। इसी प्रकार राहुल सांस्कृत्यायन जैसे समर्थ विद्वान् भी 'सव्ववारि वारिते' शब्द का सम्यक् अर्थ लगाने में इसलिए असफल रहे हैं, क्योंकि उन्होंने सूत्रकृतांग की वीर स्तुति नहीं देखी थी जिसमें वारि शब्द पानी के अर्थ में प्रयुक्त न होकर पाप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। न केवल सहवर्ती अन्य परम्पराओं का अपितु अपनी ही परम्परा के आवान्तर सम्प्रदायों के ज्ञान का अभाव भी ऐसी ही भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है। मूलाचार के समर्थ टीकाकार दिगम्बर विद्वान् वसुनन्दी दस कल्पों की चर्चा के प्रसंग में आये पज्जोसवणा शब्द का सम्यक् अर्थ इसलिये नहीं समझ सके क्योंकि वे उत्तर भारत में श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित पर्यूषणा कल्प से अपरिचित थे। समयसार में आये 'अपदेशसुत्तमज्झं' का अर्थ करने में उसके अनेक टीकाकार इसलिए असमर्थ रहे कि उन्हें आचाराङ्ग सूत्र में आत्मा को अव्यपदेश बताने वाला प्रसंग ज्ञात नहीं था। हमारे ही युग के प्रसिद्ध जैन विद्वान् कैलाशचन्द्र जी ने भगवतीआराधना में आये हुए उवणारियो शब्द को इसलिए अस्पष्ट कहकर छोड़ दिया क्योंकि वे श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित स्थानाचार्य की अवधारणा से अपरिचित थे। ये तो मैंने कुछ संकेत दिये हैं, ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ एकपक्षीय अध्ययन प्रणाली के कारण जन्म लेती हैं। अतः यथासम्भव हमें अपने अध्ययन बहु आयामी या समग्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रकार जैनविद्या का जो दार्शनिक पक्ष है, उसका भी तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है। बिना अन्य दर्शनों की मान्यताओं का अध्ययन किये दर्शन के क्षेत्र में जैनों के अवदान को नहीं समझा जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में जैनों का सबसे महत्वपूर्ण अवदान यह है कि उन्होंने न केवल परस्पर एक दूसरे के विरोध में खड़ी हुई दार्शनिक अवधारणा की कमियों की समीक्षा की अपितु उनको एक दूसरे से समन्वित कर दर्शन के क्षेत्र में एक समग्रतावादी अध्ययन विधा को विकसित किया। उन्होंने यह बताया कि परस्पर एक दूसरे के विरोध में खड़ी हुई दार्शनिक मान्यताओं को समन्वित करके समग्र सत्य का दर्शन किया जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ऐकान्तिक मान्यता की समीक्षा की और उनसे मुक्त होने की सलाह दी किन्तु जैन परम्परा ने उससे एक कदम आगे बढ़कर यह कहा कि सभी दर्शन आंशिक या सापेक्षिक सत्य को प्रस्तुत करते हैं, अतः उनमें यह सत्य है और यह असत्य है ऐसा भेद नहीं किया जाना चाहिए। असत्य का जन्म तो आग्रह या मतान्धता की गोद में होता है। यदि हमें, सम्पूर्ण सत्य का दर्शन करना है तो यह समग्र दृष्टि से ही सम्भव है। यह सिद्धसेन और हरिभद्र जैसे दार्शनिकों की दृष्टि थी जिसने प्रतिपक्ष में निहित सत्य को देखने का प्रयत्न किया और दर्शनों के मध्य जो विरोध था, उसका समाहार किया। यहाँ मेरा उद्देश्य विद्वानों को जैन दर्शन

के अनेकान्तवाद का परिचय देना नहीं है, केवल यह दिखाना है कि जैनों की समग्रतावादी दृष्टि ने किस प्रकार नित्यवाद-अनित्यवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, सामान्यवाद-विशेषवाद आदि परस्पर विरोधी दार्शनिक मान्यताओं को समन्वित कर समग्र सत्य की उद्घाटना की। यह समग्रतावादी अध्ययन दृष्टि ही है जो प्रतिस्पर्द्धी दर्शनों के मध्य निहित सत्यता का दिग्दर्शन करा सकती है। अतः उसके विकास के लिए अन्य दार्शनिक धाराओं का मताग्रहों से परे उठकर तटस्थ अध्ययन आवश्यक है। जैनाचार्यों का स्पष्ट उद्घोष है कि सत्य के सूर्य का दर्शन केवल अनाग्रही, व्यापक एवं समग्रतावादी बहुआयामी दृष्टि से ही सम्भव है। मतान्धता या आग्रह का चश्मा उसे समझने में बाधक है। अन्त में साहित्य और कला के क्षेत्र में जैनों के अवदान और उनके अध्ययन की आवश्यकता का संकेत करके अपनी बात को समाप्त करना चाहूंगा। प्राचीन भारतीय साहित्य के क्षेत्र में जैनों का अवदान लगभग ३०% से अधिक ही है। जैनाचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, मरु-गुर्जर, आधुनिक हिन्दी और गुजराती भाषाओं में विपुल साहित्य का सर्जन किया है। पुनः यह जो साहित्य है वह भी बहु आयामी है। धर्म, दर्शन, आचार, उपदेश, कथा, सृष्टि विज्ञान, खगोल, भूगोल, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र, चिकित्सा, ललित कलाएँ, काव्य, नाटक, छन्दशास्त्र, व्याकरण शास्त्र आदि अनेक विधाओं पर जैन आचार्यों ने अपनी लेखनी चलाई है। अभी तक तो इनका सम्पूर्ण सूचीकरण भी नहीं हो पाया है। एक मोटे अनुमान से सम्पूर्ण जैन ग्रन्थों की संख्या लगभग तीस-चालीस हजार से कम नहीं होगी। अभी तो षट्खण्डागम, कसायपाहुड जैसे सैकड़ों दुर्लभ ग्रन्थ भण्डारों में पड़े हुए अपने उद्धार की प्रतीक्षा में हैं। इन सबके सम्पादन, अनुवाद, व्याख्या और प्रकाशन में जैन विद्या के विद्वानों की अनेक पीढ़ियाँ खप जायेगी।

यही स्थिति जैन कला, पुरावशेषों और अभिलेखों की भी है। विश्व के पुरातन कला वैभव के क्षेत्र में भी जैनों का अवदान कम नहीं है। श्रवणबेलगोला, जिनकाश्री, धर्मस्थल, देवगढ़, मथुरा, खजुराहो, आबू, राणकपुर, तारङ्गा, ओसिया, जैसलमेर जैसे सैकड़ों जैन स्थल हैं जो अपने कलापूर्ण वैभव के लिए के विश्व में प्रख्यात हैं, किन्तु अभी तो चौसा, मथुरा, देवगढ़ के समान विपुल सामग्री भूगर्भ में दबी पड़ी है, संयोग से जो सामग्री हमें मिल जाती है उसे छोड़ दें तो अभी अनेक ऐसे जैन स्थल हैं, जिनका वैज्ञानिक ढंग से उत्खनन आवश्यक है। जो सामग्री उपलब्ध है उसके भी सम्यक् अध्ययन का कितना प्रयत्न हुआ है और कितना अभी शेष है, इसे सभी विद्वान् अच्छी तरह जानते हैं। मथुरा के कंकाली टीले एवं अन्यत्र से प्राप्त लगभग एक सहस्र पुरावशेष और मूर्तियाँ केवल लखनऊ संग्रहालय में हैं, जो जैन धर्म के सम्प्रदायों के विकास एवं जैन कला के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं, किन्तु इस दृष्टि उनका स्वल्प अध्ययन ही हुआ है। इसी प्रकार मथुरा से प्राप्त दो सौ के लगभग जैन अभिलेख

हैं जो उसके सम्प्रदायों के विकासक्रम और तत्कालीन सामाजिक स्थिति को समझने में अत्यन्त सहायक हैं, किन्तु इस दृष्टि से इनका अध्ययन किसने किया है? ये तो मैंने कुछ संकेत सूत्र दिये हैं, अभी तो जैनविद्या के क्षेत्र में बहुत कुछ करणीय है, जिस पर न केवल विस्तृत चर्चा अपेक्षित है, अपितु उस दिशा में कुछ कदम भी उठाने होंगे, जिसके लिए शासन, समाज और विद्वानों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है।

